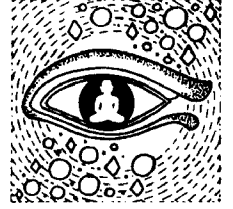


आत्मज्ञान : कितना सच्चा, कितना झूठा ?



☆ मुनि श्री नेमिचन्द्रजी

□

वर्तमान युग का मानव ज्ञान-विज्ञान में बहुत आगे बढ़ा हुआ है और बढ़ता जा रहा है। ज्ञान-विज्ञान की वृद्धि के लिए कोई इतिहास पढ़ता है, कोई भूगोल का अध्ययन करता है, कोई ज्योतिषशास्त्र एवं खगोल के अध्ययन से आकाश के ग्रह-नक्षत्र-तारों की गतिविधि का ज्ञान प्राप्त करता है, कोई मानव-विज्ञानशास्त्र को तो कोई मनोविज्ञान को पढ़ता है। इस प्रकार विद्या की विविध शाखाओं में निष्णात बनने का प्रयत्न करता है। परन्तु यह कितने आश्चर्य की बात है कि जो मनुष्य लाखों बातों को जानता है और जानना चाहता है, वह अपने आपको नहीं जानता, अपने साथ अन्य देहधारियों का क्या लेन-देन है, क्या सम्बन्ध है, इस बात को नहीं जानता और न ही प्रायः जानना चाहता है। कोई अपने आपको मिट्टी का पुतला बताता है, कोई कहता है—शरीर ही सब कुछ है। कोई स्वयं को मन या मस्तिष्क ही मानता है, कोई आस्तिक पुरुष शास्त्रों में लिखित बातों को पढ़-सुनकर कह देता है—‘आत्मा के साथ मिले हुए शरीर से युक्त मैं हूँ।’ कोई कहता है—‘मैं मनुष्य हूँ।’ कोई अपने का हिन्दू, मुस्लिम, जैन, वैष्णव आदि बताता है, तो कोई हिन्दुस्तानी, पाकिस्तानी, अमेरिकी, अंग्रेज, जर्मन आदि संज्ञाओं से अपने आपको अभिव्यक्त करता है। इसी अज्ञानता या मिथ्यामान्यता का परिणाम यह हुआ कि आज मनुष्य स्वयं को देह मानकर काले-गोरे के झगड़े में, अमेरिकन-रूसी-चीनी-जापानी आदि के संघर्ष में, भाषा और प्रान्त आदि के बखेड़े में या हिन्दू-मुस्लिम आदि के विवाद में पड़ गया है तथा केवल औपचारिक रूप से या परम्परागत रूढ़ि के तौर पर आत्मा की सत्ता मानकर, किन्तु वास्तविक रूप से तो अपने शरीर को ही सब कुछ मानकर इस दृश्यमान शरीर-चेष्टाओं को देख कर, तथा दुनिया के इतने कार्यकलाप एवं हरकतें इसी शरीर, मन आदि की देखकर वह कह बैठता है या व्यवहार करता है कि यह सब खेल शरीर और मन का है। इससे भिन्न कोई चीज समझ में नहीं आती। यही कारण है कि मानव अपने-आपको आस्तिक मानते हुए भी तथा आगमों एवं धर्मशास्त्रों आदि के पठन-श्रवण से अपने आपको आत्मा समझते हुए भी व्यवहार आत्मभाव का नहीं करता, आत्मभाव की कोई कल्पना नहीं करता, आत्मभाव की अभिव्यक्ति उसके किसी कार्यकलाप से प्रगट नहीं होती, उसके कार्यों, प्रवृत्तियों या व्यवहारों से प्रायः यही मालूम होता है कि वह अभी देहभाव में ही रमण करता है। काम, क्रोध, लोभ, मोह, अहंकार, द्वेष, घृणा, वैर-विरोध, आदि में इतना बुरी तरह फँसा हुआ प्रतीत होता है, कि कोई यह नहीं कह सकता है कि यह व्यक्ति आत्मवादी है। बड़े-बड़े तथाकथित अध्यात्मज्ञानियों के व्यवहार को देखने से असलियत का पता लग जायगा कि उनका अध्यात्मवाद केवल घोंटा हुआ है, पोथी का बैंगन है, परोपदेशे पाण्डित्यम् है, थोथे गाल बजाने का है, आत्मा को यों नहीं, यों मानो, इस प्रकार के निरर्थक विवाद का विषय है, अथवा आत्मा-आत्मा की रट लगा कर अपने आपको अध्यात्मज्ञानी कहलाने का महज एक रोग है। किन्तु वास्तव में, उनके जीवन-व्यवहार में उनके लेन-देन के मामलों में उनकी दैनिक चर्या में उनके प्रतिदिन के कार्यकलापों में, उनके व्यवसाय में या उनके अपने परिवार समाज या धर्मसंघ में कहीं आत्मभाव की, आत्मीयता की, आत्मिक व्यवहार की गन्ध तक देखने को नहीं मिलती। वे यही समझ लेते हैं—आत्मा तो केवल कहने-रटने या प्रदर्शन करने की वस्तु है, इसका व्यवहार में कोई उपयोग नहीं है। आत्मा तो निश्चय में ही सीमित रहता है, व्यवहार में आते ही वह छूमंतर हो जाता है। अथवा आत्मा या अध्यात्म तो उपदेश का विषय है, व्यवहार में उसे लाएँगे तो सारा स्वार्थ-मंग हो जाएगा, सारी रागद्वेषजनित मान्यताएँ खत्म हो जाएँगी, सारे भेद-विभेद चूर-चूर हो जायेंगे, मन के बाँधे हुए सारे ही हवाई किले ढह जायेंगे, कषायों का सारा खेल ही खत्म हो जाएगा ? क्या आत्मा को मानने, जानने और हृदयंगम करने वाला व्यक्ति दूसरों के साथ मान्यताभेद, कल्पित जातिभेद, रंगभेद, प्रान्तभेद, भाषाभेद, या राष्ट्रभेद को लेकर घृणा, विद्वेष, वैर-विरोध या उपद्रव कर सकता

है ? क्या जरा-से विचारभेद के कारण वह दूसरे की मान्यताओं के आधार पर लिखे हुए शास्त्रों को जला सकता है, पानी में डबा सकता है ? या दूसरी मान्यता या सम्प्रदाय के अनुयायी व्यक्तियों को देखकर मन में विद्वेष या वैरभाव ला सकता है ? अथवा क्या अध्यात्मज्ञानी अपने अनुयायियों को दूसरे सम्प्रदाय, मान्यता या धर्म के मानने वालों को मारने-पीटने के लिए उकसा सकता है ? अथवा क्या ऐसा आत्मवादी आत्मधर्म को भूलकर शरीर को ही पुष्ट करने में, उसे ही खान-पान से सन्तुष्ट करने में और शरीर तथा शरीर से सम्बन्धित सजीव-निर्जीव पदार्थों पर मोह, ममत्व या आसक्तिभाव रखने में संलग्न रह सकता है ? क्या आत्मा-आत्मा की रट लगाने वाला तथाकथित आत्मवादी न्याय, नीति या मानवता को भी तिलांजलि देकर, या अपने व्यवसायिक व्यवहार में धोखा-धड़ी झूठफरेब या अन्याय-अनीति चलाकर यह कह सकता है, कि आत्मा का इससे कोई सम्बन्ध नहीं, यह तो शरीर का खेल है, यह तो इस देह की लीला है। परभावों की ओट लेकर क्या कोई यह कह सकता है कि यह चोरी तो मैंने नहीं की, या यह व्यभिचार तो मैंने नहीं किया, यह तो शरीर का काम था, आत्मा-आत्मा में बरत रही है, उसका इन कार्यों से क्या वास्ता ? सचमुच यदि इसी प्रकार का अध्यात्मवाद हो तो वह समाज, राष्ट्र और धर्मसंघ के लिए भयंकर हिंसा और अराजकता का कारण है ! इन्द्रियाँ-इन्द्रियों में बरत रही हैं, मैं अपनी आत्मा में स्थित हूँ, ऐसा कहकर कोई इन्द्रियों से बुरे काम करता है, हानिकारक हरकतें करता है, हाथों से चोरी करता है, किसी का धन छीनता है, किसी को धक्का देता है, पैरों से किसी को कुचलता है, ठोकर मारता है, जीभ से किसी को गाली देता है, निन्दा-बुराई करता है, अपशब्द कहता है, या झूठ-फरेब करता है, धोखा देता है, आँखों से क्रूरता बरसाता है या किसी को बुरी नजर से देखता है, कानों से अश्लील शब्द, गीत, या कामोत्तेजक ध्वनि सुनता है, किसी की निन्दा-बुराई सुनता है, अथवा मन-मस्तिष्क से किसी के प्रति बुरे विचार करता है, द्वेष, वैर-विरोध, घृणा या मोह-ममत्व के भावों में डूबता-उतराता रहता है, तो क्या यह कहा जा सकता है कि ऐसा व्यक्ति सच्चे माने में अध्यात्मवादी है ?

इन और ऐसे ही प्रश्नों पर गहराई से विश्लेषण और मन्थन करके आप स्वयं निर्णय कीजिए कि आत्मज्ञानी, आध्यात्मिक या अध्यात्मवादी कैसा और कौन हो सकता है ?

आत्मा के विषय में उपर्युक्त प्रश्नावली बहुत ही लम्बी की जा सकती है, परन्तु मूल बात यह है कि आत्मा को जानने-मानने का प्रश्न इतना विकट नहीं है, जितना विकटतम आत्मा को छानने का प्रश्न है। क्योंकि आत्मा को शरीर और शरीर से सम्बन्धित वस्तुओं से जब व्यक्ति पृथक्करण करके सोचेगा तो उसे स्वयमेव पता चल जाएगा कि अमुक व्यवहार, प्रवृत्ति या कार्य आत्मा या आत्मा से सम्बन्धित है या आत्मेतर पदार्थ से सम्बन्धित है। जब आत्मवादी आत्मा से अतिरिक्त समस्त पदार्थों को परभाव—पराई चीज मानता है, तो अज्ञान, मोह, मिथ्यात्व, राग, द्वेष, काम, क्रोध, अहंकार, मद, दम्भ, घृणा, वैर-विरोध, कलह, आसक्ति, ममता और तृष्णा आदि सबके सब पर-भाव ही ठहरते हैं। अपने माने जाने वाले शरीर, परिवार जाति, धर्म-सम्प्रदाय भी कहाँ अपने रहेंगे ? वे भी परभाव की कोटि में गिने जायेंगे। और शिष्य-शिष्या, अनुयायी, शास्त्र, आदि भी तब कहाँ अपने माने जाएँगे ? जब व्यक्ति का शरीर, मन, इन्द्रियाँ, मस्तिष्क आदि भी उसके अपने नहीं हैं, वह (आत्मा) इन सबसे भिन्न है। ये सब तो संयोगज हैं; तब सम्प्रदाय, शिष्य-शिष्या आदि कहाँ अपने रहे ? ये सब शरीर के रहते भूल से अपने माने जाते हैं, वास्तव में ये अपने हैं ही नहीं।

आप कहेंगे कि तब तो अध्यात्मज्ञानी गृहस्थ या साधु कोई भी अपना शारीरिक कार्य नहीं कर सकेगा या शरीर से कोई भी प्रवृत्ति नहीं करेगा, अथवा शरीर से सम्बन्धित सामाजिक व्यवहार से भी अपना हाथ खींच लेगा, आजीविका का कोई भी कार्य नहीं कर सकेगा ? संसार से एकदम उदासीन, तटस्थ निश्चेष्ट, और मूक बन कर बैठ जायगा ? नहीं, ऐसा नहीं है। शरीर आदि परभावों के प्रति उसके मन-मस्तिष्क में जो मैं और मेरेपन की, अहंत्व-ममत्व की वृत्ति जड़ जमाई हुई है, अपने-पराये का भेद गहरा घुसा हुआ है, स्व-पर का राग-द्वेषमूलक द्वैविध्य उसके दिमाग में बर्फ की तरह जमा हुआ है, उसे उखाड़ना है, उसे पृथक् करना है। जब वह पृथक् हो जायगा, तब आत्मा समत्व अमृतपथ पर चलने लगेगा और तब शरीर आदि को लेकर वह एक के प्रति मोह या राग व दूसरे के प्रति घृणा, द्वेष या ईर्ष्या आदि नहीं करेगा। उसके जीवन में समत्व का व्यवहार अठखेलियाँ करेगा। इसीलिए आचार्य अमितगति ने आत्मा की इस गुत्थी को सुलझाने का सरलतम उपाय वीतराग प्रभु की कृपा से प्राप्त करने की प्रार्थना की है—

शरीरतः कर्तुमनन्तर्शक्तिं, विभिन्नमात्मानमपास्तदोषम्।

जिनेन्द्र ! कोषादिव खड्गयष्टिं तव प्रसादेन ममाऽस्तु शक्तिः ॥



—हे वीतराग प्रभो ! आपकी कृपा से मुझ में ऐसी शक्ति प्राप्त हो जाय कि मैं समस्त दोषों से रहित विष्णुद, निर्मल इस दोषमुक्त एवं अनन्तशक्तिसम्पन्न आत्मा को शरीर से उसी प्रकार अलग कर सकूँ, जिस प्रकार तलवार को म्यान से अलग किया जाता है। यह है—अध्यात्मवादी का लक्षण ! यह है आत्मा के स्वरूपज्ञ का व्यवहार-दर्शन !

जीवन के प्रत्येक व्यवहार, प्रत्येक प्रवृत्ति और हर क्रिया में, जब इस प्रकार का आत्म-व्यवहार, आत्मज्ञान का स्पष्ट अभिव्यञ्जन हो जाएगा, तब समझ लो कि आत्मा का वास्तविक ज्ञान उक्त व्यक्ति में हो गया। ऐसा सच्चा आत्मज्ञान जिसको हो जाता है, वह चाहे गृहस्थ में रहे, चाहे साधुजीवन में—वह किसी पर द्वेष, मोह, धृणा, क्रोध, अहंकार, छल, झूठ आदि नहीं कर सकता, और न ही अपने माने जाने वाले शरीर या शरीर से सम्बन्धित सजीव (शिष्य-शिष्या, सम्प्रदाय, परिवार आदि) या निर्जीव (उपाश्रय, मठ, मन्दिर, घर, दूकान, नगर, प्रान्त, राष्ट्र, भाषा आदि) पर उसकी ममता, मूर्च्छा, मोह या आसक्ति हो सकती है। इसका मतलब यह नहीं है कि आत्मवादी निश्चेष्ट, मूक, उदासीन या तटस्थ होकर चुपचाप बैठ जाएगा। वह अपनी मर्यादा में जो भी प्रवृत्तियाँ होंगी, उन्हें करेगा, किन्तु करेगा उसी दृष्टि से, जोकि आत्मगुणों में वृद्धि करने वाली होंगी, देहभाव घटाने वाली होंगी अथवा ममत्वभाव से दूर रखने वाली होंगी।

यही अध्यात्मभाव को अभिव्यक्त करने का माध्यम है, यही जीवन की अध्यात्मदृष्टि है, यही स्वभाव-रमणता की निशानी है, यही सुख-शान्ति का सरलतम पथ है; यही सच्चा अध्यात्मयोग है।

आत्मा को सच्चे माने में जानने, मानने और हृदयंगम करने की यह बात कोई कठिन नहीं है, केवल जीवन की दिशा को बदलने की जरूरत है; व्यक्ति को अपना मुख मोड़ने की जरूरत है। जो दिशा इस समय आत्मज्ञान के भ्रम के कारण भौतिक पदार्थों के प्रति ममत्व आदि की चल रही है, उसी दिशा को वहाँ से समत्व की ओर मोड़ना है। आसक्तिमुखी जीवन को अनासक्तिमुखी करना है, ज्ञान की आन्ति से अमिमूत मन को स्वभाव-रमणता से ओत-प्रोत करना है।



पुष्कर वाणी

जो बालक अभी चलना सीख रहा है, वह यदि दिन में कई बार गिरता है तो न तो उसे कोई विशेष पीड़ा होती है, और न कोई उस पर हँसता ही है। किन्तु बड़ा आदमी यदि चलता-चलता गिर पड़ता है तो उसे भी गम्भीर चोट लगती है और देखने वाले भी उस पर हँसते हैं।

अपढ़, कम समझ और नौसिखिया व्यक्ति यदि अपने जीवन-क्रम में बार-बार भूल करता है, पथ से चलित होता है तो यह उतना खतरनाक एवं हास्यास्पद नहीं होता, किन्तु जो पढ़ा-लिखा है, समझदार कहलाता है, और स्वयं को सुशिक्षित संमझता है, वह यदि जीवन में बार-बार भटकता है, भूलें करता है तो स्वयं उसके लिए भी खतरनाक है, और समाज में भी वह हँसी का पात्र बनता है।